दैनिक जागरण

मन की पवित्रता से ही तन की पवित्रता संभव है

गहराता जल संकट

बारिश के पहले देश के विभिन्न हिस्सों में पानी की किल्लत के जैसे समाचार आ रहे हैं वे यही बता रहे हैं कि आने वाले समय में पेयजल के साथ सिंचाई के पानी का संकट और गहराने वाला है। इसकी पुष्टि नीति आयोग के सीईओ के इस आकलन से भी होती है कि पानी का संकट सबसे बड़ी चुनौती बन गया है। उन्होंने यह भी रेखांकित किया कि पंजाब और महाराष्ट्र जैसे राज्यों में धान एवं गन्ने की खेती के जरिये पानी की बर्बादी हो रही है। यह पहली बार नहीं जब गहराते जल संकट के साथ उसके कारणों का उल्लेख किया गया हो। यह काम एक अर्से से हो रहा है। खुद नीति आयोग ने पिछले साल कहा था कि देश इतिहास के सबसे गंभीर जल संकट का सामना कर रहा है। यह अच्छा है कि इस बात को फिर से कहा गया कि धान और गन्ने की खेती के जरिये पानी की बर्बादी की जा रही है, लेकिन केवल समस्या के कारणों का उल्लेख करना ही पर्याप्त नहीं। इन कारणों का निवारण भी करना होगा। यह आसान काम नहीं, क्योंकि आम तौर पर किसान मनचाही फसलें उगाना अपना अधिकार समझते हैं। ऐसे में यह आवश्यक है कि किसानों को यह बताया-समझाया जाए कि किस क्षेत्र में कौन सी फसलें उगाना उचित है? ऐसा केवल बताया ही नहीं जाना चाहिए, बल्कि यह सुनिश्चित भी किया जाना चाहिए कि जल संकट वाले इलाकों में वे फसलें न उगाई जाएं जो कहीं अधिक पानी की मांग करती हैं। यह कितना कठिन काम है, इसे इससे समझा जा सकता है कि कुछ समय पहले जब उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री योगी आदित्यनाथ ने गन्ना किसानों के समक्ष यह सवाल उछाला था कि आखिर वे इतना अधिक गन्ना क्यों उगाते हैं तो उस पर आपत्ति जताई गई थी।

इसका कोई मतलब नहीं कि देश के जिन इलाकों में पानी की कमी बढ़ती जा रही है वहां भूमिगत जल का दोहन करके वे फसलें उगाई जाएं जिनमें कहीं अधिक पानी की खपत होती है। आज महाराष्ट्र गंभीर जल संकट से जूझ रहा है, लेकिन गन्ना उगाने वाला रकबा कम होने का नाम नहीं ले रहा है। इसी तरह उस पंजाब में धान की खेती बड़ी मात्रा में की जा रही है जहां भूमिगत जल का स्तर लगातार नीचे जा रहा है। कुछ ऐसी ही स्थिति देश के अन्य अनेक क्षेत्रों में है। इसका एक बड़ा कारण यही है कि किसानों को कोई यह सीख देने वाला नहीं कि वे क्या करें और क्या न करें? इसके लिए जरूरी हो तो आवश्यक नियम-कानून बनाने में देर नहीं की जानी चाहिए, क्योंकि पहले ही बहुत देर हो चुकी है। निःसंदेह किसानों को सिंचाई के वे तरीके भी उपलब्ध कराने होंगे जिनमें कम पानी की जरूरत पड़ती है। इसी के साथ पानी की बचत करने और उसे दूषित होने से बचाने के तौर-तरीके भी विकसित करने होंगे। हालांकि इस मामले में इजरायल से कुछ सीख ली जा रही है, लेकिन उसे पर्याप्त नहीं कहा जा सकता। यह भी एक तथ्य ही है कि वर्षा जल संरक्षण के उपाय अभी कागजों पर ही अधिक हैं।

संकट की घड़ी

पहले से एईएस से जूझ रहे बिहार पर तपिश की मार से संकट की स्थिति उत्पन्न हो गई है। एईएस जहां सौ से अधिक बच्चों को लील चुका है, वहीं दो दिनों में लू से डेढ़ सौ से ज्यादा लोगों की मौत हो चुकी है। देखते ही देखते लोग काल के गाल में समाते चले गए। राज्य सरकार इस आपदा का सामना करने में जुटी है। लू और एईएस के शिकार लोगों के आश्रितों के लिए मुख्यमंत्री ने चार-चार लाख के मुआवजे की घोषणा की है। तत्काल इस राशि के भुगतान का निर्देश जारी किया गया है। इसके अलावा सरकार ने अधिकारियों को पूरे प्रदेश में भीषण गर्मी और हीटवेव से बचाव की दिशा में जरूरी कदम उठाने एवं प्रभावित लोगों को हरसंभव चिकित्सा उपलब्ध कराने का सख्त निर्देश भी दिया है, लेकिन इस मौके पर दूसरी तरफ अस्पतालों में संसाधनों के अभाव एवं चिकित्सकों की लापरवाही की बात भी सामने आई है। यह स्थिति दुखद है। आइएसओ का दर्जा प्राप्त औरंगाबाद के सदर अस्पताल में लू से आक्रांत लोगों के परिजनों ने जब मरीजों को एसी वार्ड में भर्ती करने की मांग की तो बताया गया कि यहां ऐसी व्यवस्था नहीं है। आइसीयू के बंद रहने से मरीजों को इसकी सुविधा भी नहीं मिल सकी। अगर आइसीयू चालू होता तो कुछ मरीजों की जान बच सकती थी। अस्पताल में एसी भी नहीं था तो परिजनों को बाहर से बर्फ खरीदकर लाना पड़ा। डॉक्टरों की कमी के कारण इलाज में देरी की बात भी सामने आई। संकट की इस घड़ी में केंद्र सरकार भी राज्य सरकार के साथ खड़ी है। केंद्रीय स्वास्थ्य मंत्री ने मुजफ्फरपुर का दौरा कर एईएस से मौत के कारणों की जांच के लिए मुजफ्फरपुर में उच्चस्तरीय रिसर्च सेंटर बनाने की घोषणा की है। इसके अलावा बीमार बच्चों के बेहतर इलाज के लिए अगले साल तब एसकेएमसीएच परिसर में सौ बेड की पीआइसीयू बनाने का निर्णय लिया गया है। अब व्यवस्था से जुड़े अधिकारियों को इस ओर देखने की जरूरत है। इस संकट से जूझने के लिए विभागों के बीच समन्वय की भी जरूरत है। यह देखा जाना जरूरी है कि किसी भी सूरत में प्रभावितों के इलाज में किसी तरह की कोताही न हो। लू एवं एईएस से बचाव के लिए आमजन में भी जागरूकता फैलाने की जरूरत है। यह निश्चित किया जाना चाहिए कि लोगों को बेड, स्लाइन और आवश्यक दवाओं के लिए भटकना न पड़े।

कारगर उपाय नहीं सस्ता कर्ज

डॉ. भरत झुनझुनवाला

हमारी अर्थव्यवस्था की हालत उस हृदय रोगी के समान है जिसका इलाज हड्डी के डॉक्टर द्वारा किया जा रहा हो

भारतीय रिजर्व बैंक ने पिछले छह महीनों में तीन बार ब्याज दरों में कटौती की है। इसके पीछे दलील है कि इससे उपभोक्ताओं के लिए कर्ज लेकर उपभोग की वस्तुएं खरीदना एवं उद्यमियों द्वारा फैक्ट्री लगाना आसान हो जाएगा। परिणामस्वरूप मांग जोर पकड़ेगी और अर्थव्यवस्था में सुधार होगा। ब्याज दर में कटौती का यह वांछित परिणाम इस बात पर टिका हुआ है कि उपभोक्ता कर्ज लेकर उपभोग को बढ़ाएंगे या नहीं? इसका कारण है कि उपभोक्ता कर्ज तभी लेगा जब उसे भविष्य में आय की संभावना दिखेगी। जैसे यदि किसी का मासिक वेतन एक लाख रुपये है तो वह निश्चित रूप से कर्ज लेकर कार खरीद सकता है, लेकिन यदि किसी की नौकरी छूट गई है तो भले ही कर्ज कितना सस्ता हो वह कार खरीदने का इच्छुक नहीं होगा। ऐसे में देखना चाहिए कि क्या आम आदमी की आय इस अनुपात में बढ़ रही है जिससे वह कार आदि खरीदने में रुचि दिखाएगा? इस समय उपभोक्ता की आय पर पहला संकट मुक्त व्यापार का है। हमारे आयात निरंतर बढ़ रहे हैं जबकि निर्यात दबाव में हैं। भारत में माल के उत्पादन की लागत अधिक आती है। इसके तीन कारण दिखते हैं। पहला कारण भ्रष्टाचार है। जमीनी स्तर पर भ्रष्टाचार अभी भी व्याप्त है। दूसरा कारण न्यायपालिका है। यदि खरीदार पैसा अदा न करे और न्यायपालिका में मामला दायर करना पड़े तो उद्यमी के पसीने छूट जाते हैं। पांच साल के बाद निर्णय होता है और तब तक पानी उद्यमी के सिर के ऊपर से गुजर चुका होता है। तीसरा कारण है कि भारत में चीन की तुलना में प्रदूषण नियंत्रण के कानून ज्यादा प्रभावी हैं। प्रदूषण नियंत्रण का बोझ भी हमारे उद्यमियों पर पड़ता है। इन कारणों से भारत में उत्पादन लागत अधिक आती है और हमारे निर्यात दबाव में हैं।

निर्यात उद्योगों जैसे गलीचा अथवा खिलौने में रोजगार कम हो रहे हैं और आम आदमी को भविष्य में आय बढ़ने पर संदेह बना हुआ है। इसलिए ब्याज में कटौती के बावजूद उसके कर्ज लेकर उपभोग बढ़ाने में संदेह है। दूसरा कारण सरकार का आधुनिकता के प्रति मोह दिखता है। सरकार ने मेक इन इंडिया, नोटबंदी एवं जीएसटी के माध्यम से बड़े उद्योगों को बढ़ावा दिया है। छोटे उद्योगों का संकुचन हुआ है। यही कारण है कि सेंसेक्स उछल रहा है जो कि बड़े उद्योगों की सुधरती स्थिति को दर्शाता है, लेकिन देश की आर्थिक विकास दर नरम पड़ी हुई है जो समग्र अर्थव्यवस्था के ठहराव को दिखाती है। छोटे उद्योगों के संकुचन से रोजगार कम हो रहे हैं। उपभोक्ता को भविष्य में आय पर भरोसा नहीं है। वह कर्ज लेकर कार खरीदने को तत्पर नहीं दिखता। तीसरा कारण सरकारी खर्च की दिशा का है। सरकार अपनी आय से अधिक खर्च को पोषित करने के लिए बाजार से उधार लेती है। इस उधारी को वित्तीय घाटा कहा जाता है। सरकार का वित्तीय घाटा वर्ष 1990-91 में सकल घरेलू उत्पाद यानी जीडीपी का 7.6 प्रतिशत था। इस वर्ष फरवरी में पेश किए गए अंतरिम बजट में चालू वर्ष वित्त वर्ष के लिए वित्तीय घाटे का अनुमान 3.5 प्रतिशत बताया गया है। सरकार का वित्तीय घाटा 7.6 प्रतिशत से घटकर 3.5 प्रतिशत हो गया है। इसमें 4.1 प्रतिशत की भारी कटौती हुई है। देखना है कि यह कमी किस प्रकार के सरकारी खर्चों में कटौती करके हासिल की गई है। सरकार के खर्च दो प्रकार के होते हैं- राजस्व खर्च यानी खपत और दूसरा पूंजीगत खर्च यानी निवेश। खपत में सरकारी कर्मियों के वेतन, पुलिस, राजस्व आदि आते हैं जबकि पूंजीगत निवेश में हाईवे बनाना आदि आते हैं। सरकार की प्राप्तियों और राजस्व खर्चों अथवा खपत का जो अंतर होता है उसे राजस्व घाटा कहते हैं। सरकार का राजस्व घाटा 1990-91 में जीडीपी का 3.2 प्रतिशत था जो चालू वर्ष 2019-20 में 2.6 प्रतिशत होने का अनुमान है। यानी सरकार की खपत में 0.6 प्रतिशत की मामूली गिरावट आई है। सरकार के कुल खर्चों में 4.1 प्रतिशत की भारी गिरावट आई है जबकि राजस्व खर्चों में 0.6 प्रतिशत की मामूली गिरावट। शेष 3.5 प्रतिशत की कटौती सरकार के पूंजीगत खर्च में हुई है।

अवधेश राजपूत

वर्तमान सरकार की खपत मूल रूप से पूर्ववर्ती स्तर पर कायम है जबकि निवेश में भारी कटौती हुई है। सरकार के राजस्व खर्चों अथवा खपत का बड़ा हिस्सा सरकारी कर्मियों के वेतन अथवा ठेकेदारों को जाता है। इनके द्वारा अपनी आय का एक हिस्सा सोना खरीदने में अथवा विदेश में जमा कराने में किया जाता है। इस प्रकार राजस्व खर्चों अथवा खपत का एक हिस्सा रिसकर बाहर चला जाता है। राजस्व खर्चों अथवा खपत के पूर्ववत बने रहने से रिसाव बना हुआ है और अर्थव्यवस्था मंद पड़ी हुई है। सरकार ने अपने कुल खर्च अथवा वित्तीय घाटे पर नियंत्रण करने में सफलता पाई है। इसके लिए वह प्रशंसा की पात्र है, लेकिन यह नियंत्रण गलत तरीके से हासिल किया गया है। सरकार को चाहिए था कि अपने राजस्व खर्चों अथवा खपत में कटौती करती और पूंजीगत व्यय को पूर्ववत बनाए रखती। पूंजीगत व्यय बढ़ने से हाईवे इत्यादि बनाने से बाजार में सीमेंट और लोहे की मांग बढ़ती और अर्थव्यवस्था को गति मिलती है। इसकी तुलना में राजस्व खर्चों अथवा खपत से देश की पूंजी का रिसाव होता है और अर्थव्यवस्था सुस्त पड़ती है। सरकार ने गलती यह की है कि राजस्व व्यय में कटौती न करके पूंजीगत व्यय में कटौती की है जिसके कारण देश की अर्थव्यवस्था मंद पड़ी हुई है। इन कारणों से उपभोक्ता को आने वाले समय में आय में वृद्धि का भरोसा नहीं है। हमारी अर्थव्यवस्था की हालत उस हृदय रोगी के समान है जिसका इलाज हड्डी के डॉक्टर द्वारा किया जा रहा हो। अर्थव्यवस्था का रोग आर्थिक नीतियों का है, लेकिन उसका उपचार रिजर्व बैंक के डॉक्टर द्वारा किया जा रहा है। जब अर्थव्यवस्था में आम आदमी को भविष्य में अपनी आय बढ़ने का भरोसा ही नहीं है तो वह कर्ज लेकर कार क्यों खरीदेगा?

सरकार को अर्थव्यवस्था को पटरी पर लाने के लिए अपनी तीन नीतियों में परिवर्तन करना चाहिए। पहला अमेरिका के राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रंप से सबक लेते हुए संरक्षणवाद को अपनाना चाहिए। भारत में भ्रष्टाचार, न्यायपालिका और प्रदूषण नियंत्रण के खर्च के करण हमारे उद्योगों पर लागत का जितना बोझ बढ़ता है उसी अनुपात में चीन से होने वाले आयात पर आयात कर बढ़ा देने चाहिए जिससे हमारे उद्यमी उनसे प्रतिस्पर्धा में टिक सकें। दूसरे, सरकार को मेक इन इंडिया के अंतर्गत बड़ी स्वदेशी एवं बहुराष्ट्रीय कंपनियों का मोह छोड़कर अपने छोटे उद्योगों को संरक्षण देना चाहिए। जीएसटी आदि में उन्हें छूट देनी चाहिए जिससे वे बड़ी कंपनियों के सामने टिक सकें और रोजगार सृजन कर सकें। तीसरे, सरकार को वित्तीय घाटे के नियंत्रण को लक्ष्य बनाने के स्थान पर राजस्व घाटे को घटाने का लक्ष्य बनाना चाहिए। समस्या सरकार द्वारा लिए जाने वाले कर्ज की नहीं है। समस्या खपत की है। सरकार अपनी खपत को कम करे और निवेश बढ़ाए तो अर्थव्यवस्था चल निकलेगी।

(लेखक वरिष्ठ अर्थशास्त्री एवं आइआइएम बेंगलूर के पूर्व प्रोफेसर हैं)

response@jagran.com

केंद्र-राज्य संबंधों में सुधार की जरूरत

एनके सिंह

समय आ गया है कि संविधान में व्यक्त किए गए केंद्र-राज्य संबंधों को एक बार फिर से परिभाषित किया जाए

हाल की दो घटनाएं केंद्र और राज्यों के बीच बढ़ते तनाव के संकेत दे रही हैं। पहली घटना पश्चिम बंगाल की है। वहां लोकसभा चुनाव के बाद भी हिंसा थमने का नाम नहीं ले रही है। इस संबंध में सूबे के राज्यपाल केंद्रीय गृह मंत्री से मिल चुके हैं। इस अफवाह के साथ कि शायद राज्य में बिगड़ते हालात के बाद राष्ट्रपति शासन का विकल्प केंद्र सरकार सोच सकती है। इसके बाद कोलकाता में दिल के मरीज के अस्पताल में मरने के बाद एक डॉक्टर को एक समुदाय विशेष के लोगों द्वारा घातक रूप से पीटने पर पश्चिम बंगाल में डॉक्टरों की हड़ताल हुई, लेकिन मुख्यमंत्री ममता बनर्जी ने न केवल डॉक्टरों को धमकी दी, बल्कि हालात बिगाड़ने का आरोप केंद्र में शासन कर रही भाजपा पर थोप दिया। सोशल मीडिया पर घायल डॉक्टर की लहूलुहान फोटो देखकर बाकी डॉक्टर भड़क गए। इसका देशव्यापी असर हुआ और स्वास्थ्य सेवाएं एम्स से लेकर निजी अस्पतालों तक में बंद हो गईं। दूसरी घटना में बिहार के मुख्यमंत्री नीतीश कुमार ने केंद्र से चलाई जाने वाली योजनाओं का विरोध ही नहीं किया, बल्कि यह भी कहा कि राज्यों को अपनी योजना चलाने की आजादी होनी चाहिए। उनका आरोप है कि केंद्रीय योजनाओं में औसतन 40 प्रतिशत हिस्सा राज्यों को व्यय करना पड़ता है, लेकिन श्रेय केंद्र सरकार को जाता है। नीतीश ने अभी चंद दिनों पहले ही भाजपा के साथ चुनाव लड़कर अपनी पार्टी को लोकसभा में 16 सीटें दिलाई हैं। ममता भी केंद्र में भाजपा की सरकार में मंत्री रही थीं और नीतीश भी, लेकिन इन दोनों ने कभी भी केंद्र की किसी योजना पर आक्षेप नहीं लगाया था। यह 'ज्ञान' उन्हें इस चुनाव में भाजपा को मिली जबरदस्त देशव्यापी जीत के बाद आया है।

यह भी ध्यान रहे कि केरल, मध्य प्रदेश, राजस्थान और कर्नाटक ने भी केंद्र के खिलाफ मोर्चा खोल दिया है। ऐसे समय में जब देशों की अर्थव्यवस्था दुनिया के साथ समेकित हो चुकी हो, जब किसानों की उपज का सही मूल्य दिलाने के लिए कृषि-बाजार को देशव्यापी बनाने की कवायद चल रही हो, जब केंद्र की नीतियों का राज्यों में व्यापक प्रभाव पड़ रहा हो तब यह तनाव विकास और जनकल्याण को बुरी तरह अवरुद्ध कर सकता है। ध्यान रहे केंद्र की अधिकांश योजनाओं पर अमल राज्य सरकारें करती हैं। देखा जाए तो इस बढ़ते तनाव के पीछे दो कारण हैं। पहला, राज्यों में भाजपा का स्थानीय दलों के मुकाबले बढ़ता जनाधार और दूसरा, केंद्र में भाजपा की ताकत बढ़ने से गैर भाजपा राज्यों में (कांग्रेस या उनके द्वारा समर्थित सरकार में भी) पार्टी के टूटने का खतरा। ये दोनों पहलू क्षेत्रीय दलों को ही नहीं, कांग्रेस को भी हाशिये पर ला सकते हैं। यह डर भी राज्य सरकारों को केंद्र के साथ दो-दो हाथ करने के भाव में ला रहा है।

इतिहास गवाह है कि जब कभी केंद्र ने राज्य की शक्तियों का प्रभुत्व के आधार पर एक सीमा से अधिक दमन किया तो केंद्र ही कमजोर हुआ, क्योंकि राज्य की शक्तियां बगावत पर आ गईं। अतीत में अंग्रेज मजबूत केंद्र की नीति के तहत चार्टर एक्ट ऑफ इंडिया, 1833 बना कर सारी शक्तियां केंद्र में निहित करने लगे। लॉर्ड डलहौजी ने सुधार के नाम पर इस केंद्रीकरण के शिकंजे को और मजबूत किया। नतीजा था 1857 का विद्रोह। अंग्रेज सकते में थे और अगले ही साल पूरा शासन सीधे ब्रिटिश ताज के हाथों आ गया। अगले तीन सालों में अंग्रेज हुकूमत को समझ में आ गया कि भारत जैसे वैविध्यपूर्ण देश में स्थानीय शक्तियों को दबाकर पूर्ण केंद्रीकरण करके शासन करना असंभव है। इसके लिए उन्होंने राजाओं की सहायता ली, जो कहने को तो संप्रभु थे, लेकिन शक्तिहीन थे। अंग्रेजों ने अगले 90 साल इसी तरह सफलतापूर्वक शासन किया। इसके बाद आजाद भारत का संविधान बनाने के समय तीन जून, 1947 को संघ शक्ति समिति की दूसरी रिपोर्ट में भी कहा गया 'अब जबकि विभाजन एक निर्विवाद सत्य है तब हम सर्वसम्मति से इस राय के साथ हैं कि देश के हित के लिए यह घातक होगा कि ऐसा एक कमजोर केंद्रीय शासन हो जो जरूरी मुद्दों पर समन्वय बनाने में अक्षम हो। पुख्ता संवैधानिक ढांचा वह है जिसमें परिसंघ के साथ ही एक मजबूत केंद्र हो।' शायद इसी भावना से प्रेरित होकर संविधान निर्माताओं ने कुछ ऐसे प्रावधान रखे जो आज राज्यों के मुकाबले केंद्र को मजबूत पायदान पर रखते हैं, लेकिन आज प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी को या भाजपा को जो जन स्वीकार्यता मिल रही है वह पुराने जमाने का 'नृप-प्रजा' भाव नहीं है, क्योंकि प्रजातंत्र में लालू यादव, जयललिता, मायावती भी समय-समय पर यह जन स्वीकार्यता हासिल कर चुकी हैं। यह उनकी गलती थी कि वे झूठे सशक्तीकरण के जरिये सता पर काबिज रहना चाहते थे।

दरअसल क्षेत्रीय ताकतों के उभार का मुख्य कारण समाजशास्त्रीय न होकर राजनीतिक रहा है। ये वहीं उभरती हैं जहां अल्पसंख्यक अपने राष्ट्रीय औसत 14.2 प्रतिशत से ज्यादा हैं जैसे पश्चिम बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश, असम और केरल। अल्पसंख्यकों का वोट जब उस पार्टी के आधार वोट जो नेता की जाति से तय होता है, से मिल जाता है तो यह मेल सीटों पर जीत में तब्दील हो जाता है। इसलिए गुजरात, मध्य प्रदेश, राजस्थान और छत्तीसगढ़ में अल्पसंख्यक तुष्टीकरण पर आधारित जातिवादी पार्टियां देखने को नहीं मिलतीं। ममता बनर्जी का संकट यह है कि वह अल्पसंख्यक तुष्टीकरण की अपनी नीति रातों-रात बदल नहीं सकतीं और नाराज बहुसंख्यक भाजपा के रूप में अपना 'रक्षक' देखने लगा है। सामाजिक तनाव का राजनीति में लाभ का यह दोनों तरफ से अद्भुत नमूना है और भाजपा इस खेल में भारी पड़ रही है, लेकिन क्या मोदी इस 'हम-बनाम-वे' से राज्यों में काबिज होकर समाज को अपेक्षित समरसता दे सकेंगे? क्या उन्हें सामाजिक तनाव जनित बिगड़ते केंद्र-राज्य संबंधों के काल में तब तक इंतजार करना होगा जब तक भाजपा पूरे राज्यों में 'अपना' शासन नहीं कर लेती? भाजपा के विस्तार के इस उद्दात भाव के ही कारण ममता-चंद्रबाबू तो छोड़िए, शिवसेना और नीतीश भी हमेशा उससे सशंकित रहते हैं, भले ही चुनाव के कारण उन्हें साथ आना पड़ता हो। ऐसे में क्या अब समय नहीं आ गया है जब संविधान में व्यक्त किए गए केंद्र-राज्य संबंधों को एक बार फिर से परिभाषित किया जाए, ताकि सार्थक क्षेत्रीय भावनाएं प्रतिक्रियात्मक बहुसंख्यकवाद की बाढ़ में बह न जाएं?

(लेखक राजनीतिक विश्लेषक एवं स्तंभकार हैं)

response@jagran.com

ऊर्जा

चिंता

वेदों और तमाम अन्य ग्रंथों में चिता और चिंता में समानता का वर्णन किया गया है। आशय यह है कि चिंता मानव जीवन में चिता के समान ही जीवन के अंत का कारण बनती है। यहां पर एक विचारोत्तेजक प्रश्न यह उठ खड़ा होता है कि यदि चिंता व्यक्ति के जीवन को लील सकती है तो इससे मुक्ति पाने का यथोचित मार्ग क्या है? इस परिप्रेक्ष्य में यह प्रश्न भी तार्किक हो उठता है कि आखिर हम चिंता का शमन कैसे करें, ताकि इसके प्राणघातक प्रभाव से स्वयं को सुरक्षित रख पाएं?

चिंता पर जब हम शिद्दत से मनन करें तो इस सत्य को समझने में देर नहीं लगती है कि जिन तमाम चिंताओं से एक इंसान हलकान और बेजार होता है, वे सभी महज दो प्रकार की होती हैं। चिंताओं का पहला प्रकार मानव-निर्मित है तो दूसरा प्रकृति प्रदत्त। यहां पर हमें यह कदापि नहीं भूलना चाहिए कि मानव-निर्मित चिंताओं के कर्णधार हम खुद ही होते हैं और इसीलिए उनके समाधान का रास्ता भी हम तक ही आकर सिमट कर रह जाता है। इसके लिए खुद के जीवन की सोच, कर्म और दर्शन पर गंभीरता से सोचने की दरकार है। यदि हमें कोई चिंता सता रही हो तो पहला काम यह पता लगाने की कोशिश करनी चाहिए कि कहीं हमारी जीवनशैली, सामाजिक, पारिवारिक, नैतिक, धार्मिक मूल्यों और मर्यादाओं का उल्लंघन तो नहीं कर रही है? यदि खुद को आप इस प्रकार के चक्रव्यूह में पाते हैं तो फिर यह समय चेतने का है, यह समय खुद को रोकने का है और यह समय खुद को नियंत्रित करके मर्यादाओं और नैतिक मूल्यों के रास्ते पर लौट कर आ जाने का है।

कुछ चिंताएं प्रकृति और प्रारब्ध से प्राप्त होती हैं, जिन पर एक व्यक्ति का कोई नियंत्रण नहीं होता है। समय तेजी से बदलता जा रहा है। इस दुनिया में कुछ भी स्थायी नहीं है। आज धन है, कल नहीं है, आज सुख है तो कल नहीं है, आज आनंद है तो कल नहीं है, आज स्वस्थ हैं तो कल नही हैं, आज प्रसन्न हैं तो कल नहीं हैं। इन्हें हम नियंत्रित नहीं सकते हैं। इसलिए जीवन में इन सभी अपरिहार्य घटनाओं पर चिंता व्यर्थ है। समय के चक्र को सहज भाव से स्वीकार कर लेना ही चिंता से मुक्ति का सांसारिक दस्तूर है तो फिर चिंता क्यों? जीवन की वास्तविकताओं को मूल स्वरूप में स्वीकार करने की प्रवृत्ति भी चिंताओं से मुक्त करती है।

श्रीप्रकाश शर्मा

कितना उचित है मुफ्त सफर का वादा

आशीष सूद

दिल्ली मेट्रो को 378 करोड़ रुपये का सालाना नुकसान हो रहा है। इस पर और आर्थिक बोझ डालना अनुचित होगा

मेट्रोमैन ई. श्रीधरन ने प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी को पत्र लिखकर दिल्ली मेट्रो को कंगाल होने से बचाने की अपील की है। उन्होंने कहा है कि महिलाओं को मुफ्त यात्रा की सुविधा के लिए दिल्ली सरकार को सालाना एक हजार करोड़ रुपये से अधिक खर्च करना होगा। इससे दिल्ली मेट्रो स्वाबलंबी न रह कर, सरकारी सब्सिडी का मोहताज हो जाएगी। (डीएमआरसी ने यह राशि सालाना 1560 करोड़ रुपये बताई है।) श्रीधरन की इस राय से शायद ही कोई असहमत होगा कि महिलाओं को छूट मिलते ही कई अन्य जरूरतमंद वर्गों जैसे छात्र, वरिष्ठ नागरिक और दिव्यांगों को भी छूट देने की मांग उठेगी। यह बीमारी कहां जाकर रुकेगी, यह कहना मुश्किल है। श्रीधरन ने दोटूक कहा है कि जब मेट्रो में केंद्र और राज्य सरकार, दोनों की भागीदारी हैं तो दिल्ली सरकार अकेले इतना बड़ा फैसला नहीं ले सकती।

लेकिन मेट्रोमैन के अनुभव और नजरिये का सम्मान करने के बजाय उपमुख्यमंत्री मनीष सिसोदिया ने उन्हें जो जवाब लिखा है, वह इस बात का सनद है कि 'आप' का सरोकार न व्यवस्था से है न ही जनता से। केंद्र से सलाह के बिना मनमाने ढंग से घोषणा क्यों की गई, इसका कोई जवाब सिसोसिदा के पत्र में नहीं है?

दिल्ली मेट्रो पहले से ही आर्थिक दबाव से गुजर रही है। 2009 से इसके इनपुट खर्च में 105 प्रतिशत, कर्मचारियों पर 139 प्रतिशत, जबकि रखरखाव पर खर्च में 213 प्रतिशत की वृद्धि हो चुकी है। एक बेहतर मैनेजमेंट के बावजूद मेट्रो को करीब 378 करोड़ रुपये का सालाना नुकसान हो रहा है। इस पर और आर्थिक बोझ डालने पर इसकी व्यवस्था का चरमरा जाना तय है। सिसोदिया ने पत्र में लिखा है कि दिल्ली सरकार टोकन खरीद कर महिलाओं को बांटेगी। प्रश्न यह है कि क्या सरकार टोकन बांटने के लिए शहर भर के मेट्रो स्टेशनों पर अपना टोकन काउंटर खोलेगी? इन काउंटरों पर किन लोगों को नियुक्त करेगी? इनका खर्च कौन वहन करेगा?

'आप' ने 'यूनिफाइड ट्रांसपोर्ट कमांड' के साथ लोक परिवहन को सस्ता, सुलभ और सुगम बनाने का जो वादा किया था, उसे दिल्ली सरकार भूल गई। यूनिफाइड ट्रांसपोर्ट कमांड में ई-रिक्शा, ऑटो, टैक्सी, कैब सर्विस और मेट्रो समेत पूरी परिवहन व्यवस्था को एकीकृत कर उसे चाक-चौबंद बनाया जाना था। दिल्ली में परिवहन व्यवस्था दुरुस्त करने के लिए 4000 नई बसें उतारने के वादे के उलट, 400 नई बसें भी नहीं आईं। इलेक्ट्रिक वाहन के लिए 100 करोड़ रुपये देने का वादा भी पूरा नहीं हुआ। इससे दिल्लीवासी हर दिन मुश्किलों का सामना करने के लिए मजबूर हैं।

दिल्ली सरकार 'लास्ट माइल कनेक्टिविटी' का वादा भी पूरा नहीं कर पाई! दिल्ली में अमूमन आवास से मेट्रो स्टेशन और मेट्रो स्टेशन से कार्य स्थल तक पहुंचना ज्यादा दुष्कर है। महिलाएं इसमें और भी ज्यादा परेशानी महसूस करती हैं। मेट्रो स्टेशन को सार्वजनिक परिवहन के अन्य साधनों जैसे मेट्रो फीडर सर्विस और ई-रिक्शा आदि से जोड़ने में दिल्ली सरकार विफल रही है। ऐसे में मुफ्त यात्रा की सुविधा इस बात की गारंटी नहीं है कि महिलाएं इसका उपयोग करेंगी ही।

(लेखक दिल्ली भाजपा के नेता हैं)

मेलबाक्स

प्राथमिक शिक्षा को सुदृढ़ करने की जरूरत

भारत के भविष्य का आधार बने नई शिक्षा नीति शीर्षक से अपने लेख में सृजन पाल सिंह ने मोदी सरकार की बहुप्रतीक्षित नई शिक्षा नीति को लेकर जो मुद्दे उठाए हैं, वे विशाल आबादी वाले विकासशील भारत के लिए तब तक अनुपयोगी हैं जब तक भारत की शिक्षा को गुणवत्तापरक नहीं बनाया जाता। प्राथमिक शिक्षा गुणवत्तापरक शिक्षा की नींव है, यह नींव जितनी सुदृढ़ होगी आगे की शिक्षा उतनी ही मजबूत होगी, क्योंकि यह एक तथ्य है कि इस देश की कमजोर प्राथमिक शिक्षा आगे की माध्यमिक और उच्च शिक्षा की गुणवत्ता को प्रभावित कर रही है। भारत की उच्च शिक्षा को सुदृढ़ बनाने की बात करने वाली नई शिक्षा नीति में इस तथ्य को नजरअंदाज कर दिया गया है। शायद इसीलिए आज कथित रूप से शिक्षित बेरोजगारों की भीड़ बढ़ती जा रही है। उप्र जैसे बड़े राज्य में हाईस्कूल-इंटर की बोर्ड परीक्षाओं में नकल का बोलबाला रहता है। इस स्तर पर नकलविहीन परीक्षा कराना लगभग असंभव सा हो गया है। नकल का यह रोग उच्च शिक्षा में भी व्याप्त है। ऐसे में जरूरत इस बात की है कि पहले शिक्षा की नींव मानी जाने वाली प्राथमिक शिक्षा को चुस्त-दुरुस्त किया जाए। प्राथमिक शिक्षा के शिक्षकों को पहले की मॉडल स्कूल पद्धति के अनुरूप कड़े मानकों के आधार पर त्रिवर्षीय उच्च स्तरीय प्रशिक्षण देकर उसी जिले के प्राथमिक स्कूलों में नियुक्त किया जाए जहां के वे मूल निवासी हैं, ताकि वे अपने अध्यापकीय दायित्व को ठीक से निर्वाहित कर सकें। शिक्षा की नींव मानी जाने वाली प्राथमिक शिक्षा को सुदृढ़ किए बिना माध्यमिक और उच्च शिक्षा को गुणवत्तापरक बनाने की बात करना बेमानी है।

डॉ. वीपी पाण्डेय, अलीगढ़

एक देश एक चुनाव

देश भर में लोकसभा और विधानसभाओं के चुनाव एक साथ कराने के संदर्भ में कई सालों से बहस चल रही है। इस संदर्भ में समय-समय पर चुनाव आयोग, नीति आयोग, विधि आयोग और संविधान समीक्षा आयोग एक देश एक चुनाव के समर्थन में पहल कर चुके हैं। 2018 में विधि आयोग ने देश में एक साथ चुनाव कराने के मसले पर विभिन्न राजनीतिक दलों, क्षेत्रीय पार्टियों तथा सरकारी अधिकारियों की राय जानने के लिए तीन दिवसीय सम्मेलन का आयोजन किया था, परंतु अधिकतर राजनीतिक दलों ने इसका विरोध किया था। दरअसल आजादी के बाद चार चुनाव 1952, 1957, 1962 और 1967 एक देश एक चुनाव के आधार पर कराए गए। तो वर्तमान में राजनीतिक दलों को क्या समस्याएं हैं? वर्तमान में प्रधानमंत्री मोदी ने एक राष्ट्र एक चुनाव के विषय पर चर्चा के लिए संसद भवन में सभी राजनीतिक दलों की बैठक बुलाई है। समस्त देशवासियों को उम्मीद है कि यदि एक देश एक जीएसटी लागू हो सकता है तो एक देश एक चुनाव क्यों नहीं? इस मामले पर सभी राजनीतिक दलों को सरकार का साथ देना चाहिए, ताकि चुनाव में होने वाली पैसे एवं समय की बर्बादी को रोका जा सके। चुनाव पर होने वाले खर्च में हो रही वृद्धि से देश को आर्थिक नुकसान हो रहा है। ऐसे में एक राष्ट्र में एक चुनाव होना ठीक है।

vermakashish66@gmail.com

डॉक्टरों का फर्ज

अपवाद स्वरूप सरकारी सेवा में कार्यरत डॉक्टरों को छोड़ दें तो अधिकांश डॉक्टर अपना फर्ज पूर्ण ईमानदारी एवं समर्पण भाव से नहीं निभाते हैं। डॉक्टरों को भी अपने प